

## समकालीन हिन्दी कहानी में आदिवासी चेतना

नन्हकू प्रसाद यादव,

शोधार्थी-हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,

डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ

समकालीनता सतत वर्तमान को व्यंजित करने वाली कालधर्मी संज्ञा है। अतएव समकालीन हिन्दी कहानी से अभिप्राय एक स्तर पर उस कहानी से है, जो हिन्दी में आज लिखी जा रही है और दूसरे स्तर पर उस कहानीगत रचनाशीलता से है जो आज के परिदृश्य अथवा जीवन-स्थितियों से सम्बद्ध है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते देश में सूचना प्रौद्योगिक, बाजारवाद, पूँजीवाद, आतंकवाद, जातिवाद और ग्लोबलाइजेशन का दबदबा ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों इनके शिकंजे में जकड़ता गया। इसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ना लाजिम था। फलतः एक तरफ व्यक्तिगत अहंवाद कमजोर पड़ा तो दूसरी तरफ समाज सापेक्ष नई अवधारणाएँ और नये साहित्यिक विमर्शों का बोलबाला बढ़ा। साहित्य में नये-नये विषय क्षेत्र-दलित विमर्श, नारी विमर्श, आदिवासी विमर्श आदि स्थापित हुए। वर्तमान हिन्दी साहित्य में इन विमर्शों ने खास ऐतिहासिक परिस्थिति में अपना स्थान बनाया है। सामुदायिक विमर्श के तहत आजकल हिन्दी में अच्छा साहित्य आ रहा है। अब साहित्यिक पत्रिकाओं में ही विमर्शों की धूम नहीं रही बल्कि एकेडेमिक संसार में भी स्त्री, दलित, आदिवासी, स्थानीय संस्कृति और छोटी भाषाओं के अध्ययन केन्द्र खुलने लगे हैं। इन विमर्शों ने साहित्य के अध्ययन में नये सामाजिक पक्ष जोड़े हैं और एक नयी जान पैदा की है। इन विमर्शों ने नये सामाजिक वर्गों और क्षेत्रों से हिन्दी के नये लेखक और पाठक दिये हैं, जो विमर्श आधारित साहित्य से मानवीय आत्मसम्मान के साथ जीने की प्रेरणा पाते हैं। इन विमर्शों ने वंचित और उपेक्षित समुदायों को न केवल जगाया है बल्कि उन्हें मुखर भी बनाया है। इनकी वजह से स्त्रियों में ज्यादा निकटता आयी है, दलितों में भी ज्यादा निकटता आयी है।

उनमें मुक्ति की बेचैनी पैदा हुई है। अब हर मौके पर स्त्री और दलित की जरूरत पड़ रही है, आदिवासियों के लोग दूँढे जा रहे हैं। अब सामुदायिक हलचलों और जमीन की चीखपुकार की तरफ राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय महारथियों की नजर जा रही है। इस सम्बन्ध में डा० शम्भूनाथ लिखते हैं कि आखिरकार भारत की आजादी के बाद इन लगभग सत्तर सालों के राष्ट्रीय विकास और जनतन्त्र में स्त्री, दलित और आदिवासी, स्थानीय संस्कृति और समुदाय इतने दब के रह गये कि 'विमर्श' के उत्तर-औपनिवेशिक मुहावरे की जरूरत पड़ी? राष्ट्रीय विकास और जनतन्त्र इतने केन्द्रीकृत क्यों हैं? इतना भ्रष्टाचार कैसे पनपा? वैश्वीकरण के जमाने में उच्च पूँजीवादी दबावों के बावजूद यदि समाज में सामन्ती मिजाज बड़े पैमाने पर बचा है, 'विमर्श' ही दवाई है। यह मिटने से पहले स्त्री, दलित, आदिवासी तथा समाज के सभी दबाय गये तबकों की वर्चस्वों पर करारी चोट है। उधर से दमन बढ़ रहा है, इधर से बौद्धिक पलटवार भी चल रहा है। आधुनिकीकरण, संविधान और प्रशासन के भरोसे सब कुछ नहीं छोड़ा जा सकता है। इसलिए विमर्शों की जरूरत है, बौद्धिक पलटवार की जरूरत है।<sup>1</sup>

सामुदायिक विमर्श समाज के दबे सन्दर्भों को सामने लाता है और सामन्ती मिजाज को बौखलाहट से भर देता है। कुल मिलाकर कहा जाय तो यह विमर्शों का युग है और हमारे समय के सामुदायिक विमर्श ऐतिहासिक यथार्थ हैं डॉ० शम्भूनाथ आगे लिखते हैं- "भारत एक बहुजातीय, बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक ही नहीं है। यह भेदभाव, दमन वर्चस्वों से भरा हुआ देश भी है य उतना ही नहीं है, जितना नक्शों में दिखता है। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है, यदि हमारे समाज में भारतीय राष्ट्रवाद से जिरह

करते हुए आज स्त्री, दलित, किसान, आदिवासी और अनगिनत स्थानीय जातियाँ-पुराजातियाँ अपने ऊपर हुए जुल्मों का इतिहास खोज रही हैं।<sup>2</sup> यही वजह है कि समाज के दबे समुदायों ने आंदोलनगत विचाराधों से मुँह फेरकर अतीत से चले आ रहे भेदभाव के खिलाफ सामुदायिक आवाज का रास्ता पकड़ा है और इस तरह साहित्य में वर्तमान समय में विमर्श की महत्ता बढ़ती हुई नजर आ रही है। दूसरों शब्दों में कहा जाय तो सामुदायिक विमर्शों में वे बोलते हैं जो इतिहास में बोल नहीं पाये थे या जिन्हें बोलने नहीं बंदया गया था। सन् 1990 के पश्चात स्त्री विमर्श और दलित विमर्श दो प्रमुख सरोकार के रूप में हाशिये से साहित्य केन्द्र में आ चुके हैं। हिन्दी साहित्य के केन्द्र में आ चुके हैं। स्त्री व दलित विमर्श को गति देने में 'हंस' और 'युद्धरत आम आदमी' जैसी हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। दलित समुदाय ने डॉ० अम्बेडकर के शिक्षित बनो, संकठित रहो, संघर्ष करो का उद्बोधन का अनुसरण करते हुए दलित साहित्य को परम्परागत साहित्यके समान्तर ला खड़ा कर दिया, जब कि आदिवासी विमर्श आज भी साहित्यजगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए हाथ-पैर मार रहा है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में 'युद्धरत आम आदमी' ने दूसरी दुनिया का यथार्थ शीर्षक के अंतर्गत हिन्दी साहित्य में प्रतिनिधि दलित कहानियाँ विशेषांक प्रकाशित किया था। इस अंक में दलित व अन्य पिछड़े वर्ग के कहानीकारों की रचनाएँ तो शामिल थी किन्तु न तो कोई आदिवासी साहित्यकार शामिल था और न ही कोई कहानी आदिवासी पृष्ठभूमि लिए हुए थी। इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए आदिवासी कवि एवं लेखक हरिराम मीणा लिखते हैं – "इन तथ्यों के प्रकाश में ही पथिकबाबा ने पहल करके रमणिका जी से कुछ सवाल किये कि दलितों की बात करने वाले उन जैसे साहित्य के महारथी आदिवासीजनों के बारे में कभी क्यों नहीं सोचते जो समाज की मुख्यधारा से ही नहीं, भौगोलिक दृष्टि से भी हजारों सालों से अलग-थलग पड़े हुए हैं देश के विभिन्न अंचलों में उपेक्षित अवस्था में पड़े इस वंचित शोषित आदिवासी समुदाय की सुध लेने आप जैसे प्रबुद्ध साहित्यकार आगे क्यों नहीं आते? विकास के नाम पर अपनी पुश्तैनी भूमि से खदेड़े जा रहे,

अपने अस्तित्व के लिए पैदा हुए घोर संकटों से जूझते हुए इन आदिवासियों को आप जैसे साहित्यकारों की संवेदना कब हासिल होगी?"<sup>3</sup> इस सिलसिले में यह भी स्पष्ट किया गया कि आदिवासीजनों के अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ है, उनकी अपनी पीड़ाएँ हैं, अपनी अपेक्षाएँ हैं और वे भी परिवर्तन के पक्षधर हैं। दलित और आदिवासी समुदाय में कुछ समानताएँ हो सकती हैं, पर अमानताएँ इतनी विकट हैं कि उन्हें विशेष ट्रीटमेन्ट की जरूरत है। इसका सुखद परिणाम यह हुआ कि तीन वर्षों की बड़ी मेहनत के बाद रमणिका जी ने सन् 2001 में युद्धरत आम आदमी 'त्रैमासिक के दो महत्वपूर्ण विशेषांक : आदिवासी स्वर और नई शताब्दी' खण्ड -I, व खण्ड -II प्रकाशित किए। 'युद्धरत आम आदमी' पत्रिका के आदिवासी विशेषांक के सन्दर्भ में समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए दुर्गा प्रसाद लिखते हैं – "रमणिका गुप्ता की सराहना की जानी चाहिए कि उन्होंने इस दृष्टि से स्वयं को बचाते हुए जनवादी दृष्टि से आदिवासियों के जीवन और समाज के दुख-दर्द, हर्ष उल्लस, इतिहास, संस्कृति और संघर्ष को समझने की इमानदार कोशिश की है। इस समझ के अभाव में जिदगी और साहित्य दोनों को भासर बन जाते हैं। युद्धरत आम आदमी ने आदिवासी जीवन और साहित्य को भार बनने से बचाया है और नई शताब्दी में आदिवासी स्वर की स्वाभाविकता और सहजता को सृजनात्मक संदर्भों के साथ प्रस्तुत किया है"<sup>4</sup>

प्रस्तुत आलेख शोषित वंचित समुदायों को समर्पित हिन्दी की दो महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के इक्कीसवीं सदी में प्रकाशित विशेषांक 'युद्धरत आम आदमी' का आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी खण्ड-I, II तथा 'अरावली उद्घोष का आदिवासी कहानी अंक-79 मार्च 2008 में प्रकट कहानियों पर आधारित हैं। इन दोनों विशेषांकों के प्रकाशन में आदिवासियों के उन्नयन के लिए पिछले 25 वर्षों से समर्पित भाव से गैर आदिवासी होते हुए भी काम करते आ रहे थे जो अब हमारे बीच नहीं रहे ऐसे सम्माननीय स्व० बी०पी०वर्मा जी जिन्हें हम सब पथिक बाबा के नाम से जानते हैं, उनका अविस्मरणीय योगदान है। क्रमशः यह सन् 2001 और 2008 अर्थात् नई सदी में प्रकाशित हुए हैं।

प्रथम विशेषांक में रमणिका जी ने एक एक नीतिगत फैसले के तहत आदिवासी लेखकों द्वारा लिखी गई मौलिक रचनाएँ ही ली हैं, इसके पीछे उनकी खास मंशा रही है। रमणिका जी के शब्दों में कहें तो “ इसके पीछे हमारी मंशा बहुमुखी है— एक तो यह कि उनकी समस्याओं पर उनमें ही विश्लेषण करन और समाधान का रूझान पैदा हो, ताकि वे स्वयं नेतृत्वकारी भूमिका अदा कर अपने विकास की संभावनाओं को हर क्षेत्र में तलाशें और बहस चलाएँ। आज तक दूसरे ही लोग उन्हें उपदेश देते हैं, ये स्वयं क्या चाहते हैं इसकी बजाय केवल यही कहते रहे हैं “ बससुनों, जो हम कहते हैं – यही तुम्हारे हितार्थ हैं “—हमोर अनुभव से लाभ उठाओ। ” उन्हें न तो अपने अनुभवों से सीखने का अवसर देते हैं और ना ही कुछ का।<sup>5</sup>

आदिवासी कहानियों की जाँच-पड़ताल से पूर्व डॉ० रमेशचन्द्र मीणा की कहानी समीक्षा के मानदण्ड के सम्बन्ध में की गई टिप्पणी उद्धृत करना चाहता हूँ— “ कहानी की जाँच-पड़ताल के लिए अभी तक निश्चित प्रतिमान नहीं बन पाये हैं और कहानी है कि नित नये क्षेत्रों में प्रवेश ले रही है। एक ओर नये सौन्दर्यशास्त्र की माँग करता हुआ दलित साहित्य आन्दोलन की मुद्र में खड़ा है तो दूसरी ओर आदिवासी साहित्य जो न मुख्य धारा से मिलता है और न दलित साहित्य से इसकी प्रवृत्ति मेल खाती है, अपना वजूद स्वीकारे जाने की प्रतीक्षा में खड़ा है। ऐसी हालत में लगता है, कहानी समीक्षकों को अपने पुराने हथियारों की फिर से जाँच –पड़ताल करनी होगी। ”<sup>6</sup>

प्रथम: आदिवासी लेखकों द्वारा ‘युद्धरत आम आदमी’ त्रैमासिक में कलमबद्ध की गई आदिवासी जीवन से सम्बन्धित कहानियों का जायजा ले रहे हैं। इस विशेषांक में शामिल आदिवासी लेखकों में अनेक कहानी क्षेत्र में प्रतिष्ठित नाम है जैसे, कोमल, वाल्टर भेंगरा, ‘तरुण’ पीटर पोल एक्का, डॉ० मंजू ज्योत्सना रचित, शंकरलाल मीणा, रामधन लाल मीणा, हजारी लाल मीणा इत्यादि कोमल रचित ‘साहूकार की मछली’ कहानी में लेखिका द्वारा बेरोकटोक किये जा रहे आदिवासियों के शोषण का पर्दाफाश किया है।

कोमल द्वारा लिखित ‘पहचान’ कहानी आदिवासी जनजाति का भयानक दर्द सामने लाती है जिसे पढ़कर पाठक का मन सुन्न हो जाता है। कहानी में एक मुखिया जिसका नाम सिंहजी है। मुखिया सिंह जी के पास एक आदिवासी युवती जाति का प्रमाण-पत्र बनवाने के लिए आवेदन पत्र लेकर जाती है। मुखिया नीचे से ऊपर दरेखता है और उससे उसका नाम पूछता है। वह कहती हैं किमेरा नाम ‘सोनिया टोप्पो’ है। तब उस पर मुखिया अगला सवाल करता है कि तुम पढ़ती हो, तबवह कहती हैं कि मैं इंटर में पढ़ती हूँ तब वह उसे घूरकर देखता है और कहता है कि तुम तो आदिवासी नहीं लगता और तुम्हारा नाम भी आदिवासी जैसे नहीं है। वह कहता है— हाँ तुम्हारा नाम तो आदिवासियों जैसा है ही नहीं। आदिवासी लड़कियों के नाम तो ‘एतवारी’, ‘सुरजी’ आदि हुआ करते हैं।<sup>7</sup>

पीटर पाल एक्का विरचित कहानी ‘राजकुमारों के देश में विस्थापन के दर्द के साथ-साथ गाँव की तिकडमबाजी चौकड़ी-मुखिया, ठेकेदार, सरपंच और पुलिस— के काले कारनामों नंगेपन को बेनकाब करती हैं, जिसके द्वारा भोली-भाली मासूम आदिवासी लड़किया व औरतें बलात्कार की आग में झोंक दी जाती हैं।

आदिवासी कहानियों में आदिवासी समाज की औरतों का भी संवेदनशील रूप दिखाई देता है। ऐसी ही कहानी ‘प्रायश्चित’ है। यह कहानी है डॉ० मंजू ज्योत्सना की, जिसका नायक रिक्शा चालक है। वह नगाड़ा बजाने में और नाज-गाने में भी माहिर है। उसका सात लोगों का परिवार है। पूरा परिवार सूबद्ध गाता है और नाचता है। उसका नाम डोमना है। उसकी दो बहनें हैं, जिनकी शादी हो चुकी है। उसमें एक बहन इन्हीं के घर में रहती है। इनका घर एक विधवा सिपाही के मकान में है। उसी के एक कमरे में इनका गुजर-बसर होता है। कुछ दिनों बाद डोमना की शादी होती है। लेकिन उसकी दुल्हन बदसूरती के साथ-साथ बेसुरी भी है। पर घर के सारे कामों में सुघड़ है। घर खर्च में भी वह अपना हाथ बटाती है। शादी के महीने भर बाद से वह काम के लिए निकल पडती है। खुद कमाकर लाती है— पर शादी के दो वर्ष बीतने पर

भी वह गर्भवती नहीं होती। उसे बाँझ कहकर ताने दिये जाते हैं। सास के , आस-पड़ोस के, ताने सहती है। उससे कहा गया— “बाँझ हऊ बाँझ, उकर छाई से भी बड़च के रहेक चाही।”<sup>8</sup>

इसी तरह आदिवासी समाज और उनके जीवन को निकट से देखने वाले रचनाकार संजीव ठाकुर ने भी अपनी महानियों में आदिवासियों के अनेक पहलुओं को उजागर किया है।

टीस कहानी में एक सपेरे आदिवासी को चित्रित किया गया है। सपेरा ‘शिबू काका’ इस कहानी के केन्द्र में है। जिसका पूरा समाज संस्कृति, खेत और जिन्दगी का सुख कायेलरी मालिक के स्वार्थी की भेंट चढ़ गया है। कहानी में इन लोगों का विस्थापन , उन पर होन वाले अन्याय, शोषण करने वाली पूँजीपति व्यवस्था के प्रति आक्रोश उमड़कर शोषण की पोल खोलता है। कथ वाचक की माँ शिबू काका से सॉप दिखाने का आग्रह करती है। तब शिबू काका समाजमें दिखे मानव प्रवृत्ति को जंगली प्राणियों के नामसे सम्बोधित करते हुए कहता है। — “ पिनाकी महतो एक नंबर का अजगर है— मुखिया की लड़की —पत्तो डेमना (धामिन) हैं, मुदिखाना का दुकानदार शेट लोग राजस्थान का ‘पीपना नाग’ है।”<sup>9</sup>

इस कहानी के द्वारा संजीव ने आदिवासी जीवन की त्रासदी को स्पष्ट किया है। कहानी के यथार्थ में सत्य नहीं सामर्थ्य की तूती बोलती है।

दूसरी कहानी ‘चाकरी’ है जिसमें एक नवयुवक की कहानी है। वह अपनी ही जाति के लोगों द्वारा शोषण तथा उत्पीड़न के कारण गाँव से शहर विस्थापित कर दिया जाता है। उसकी जमीन गाँव का सरपंच रघुवीर सहाय हड़प लेता है और उसे चमान, सुअर के रूप में घोषित कर गाँव से खदेड़ दिया जाता है। वह जीवन से संघर्ष करते हुए एस0एस0सी0 पास कर लेता है। वह जहाँ नौकरी करता है उसे पर्सनल मैनेजर की बेटी का ट्यूटर बनना पड़ा। वह कहता भी है — “एम्प्लायमेंट वक्सचेंज से भरती करने अफसरों और क्लर्कोंकी बिलिडिंगे बनती देखी हैं। मैंने। यह सब देखता रहा हूँ और टूटता रहा हूँ। टूटता रहा हूँ और देखता रहा हूँ।”<sup>10</sup>

उपयुक्त विवेच्य सभी कहानियों के विषयों में आदिवासी जीवन की वास्तविकता से रू-बरू कराते हुए शोषण, विस्थापन, वर्ग-विषमता, अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह, प्रेम, त्याग, बलिदान, स्त्रियों का दयनीय जीवन, अपनी जमीन से जुड़े रहने की ललक, अपनी पहचान बनाये रखकर व्यापक समाज जुड़ने की ललक, वर्तमान भारतीय समाज में आदिवासियों का जीवन स्तर इत्यादि है।

आदिवासी कहानी साहित्य को देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदिवासी समुदाय अपनी भूमि से जुड़ा होता है, वैसे ही वह अपनी संस्कृति तथा अपनी श्रद्धा के साथ भी जुड़ा होता है। हमारा सभ्य समाज इसे अंध-श्रद्धा मानता है। पर वह उनकी दृष्टि में श्रद्धा है। विकास की अज्ञानता ने उन्हें आज भी पिछड़ा हुआ रखा है। परन्तु जैसे भी हैं अपने-आप में खुशहाल हैं, परन्तु देश की प्रगति की तुलना में तथा संवैधानिक अधिकारों की तुलना में निश्चित रूप में उनके पिछड़ेपन को हिन्दी का कथा-साहित्य सृजन कर रहा है। आदिवासी जीवन की विविधता, उनकी संस्कृति, लोकजीवन, उनका नक्सलवाद में शामिल होना, शामिल न होते हुए भी नक्सलवादी घोषित कर अन्याय करना, स्त्री-शिक्षण, अशिक्षा, औद्योगीकरण तथा परियोजनाओं के नाम पर उनकी जमीनें हड़पना, आदि षडयंत्र तथा पुनर्वास की समस्याओं को कहानी साहित्य सृजन की प्रेरणा मानता है। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप सभी विधाओं में आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है। आज आवश्यकता है कि आदिवासी समाज के सर्वस्व पर सवाल उठाने की। कथा-साहित्य द्वारा उठाये गये सवाल ही आने वाले काल में उनके प्रश्नों के उत्तर में परिवर्तित होकर उनके जीवन की सुनहरी जनचेतना बन सकते हैं।

## संदर्भ

1. समकालीन हिन्दी कहानी सरोकार और विमर्श —संपा. श्यामसुन्दर पाण्डेय, पृष्ठ 25
2. वही, पृष्ठ 20

3. अरावली उद्घोष-बी०पी०वर्मा , 'पथिक' , अंक-56 अप्रैल-जून-2002, पृष्ठ 55
4. हंस-संपा. राजेन्द्र यादव जून, 2001, पृष्ठ 93
5. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी-संपा. रमणिका गुप्ता, पृष्ठ 5
6. अरावली उद्घोष -संपा. बी०पी० वर्मा 'पथिक', अंक -80 जून 2008, पृष्ठ 60
7. कोमल- 'पहचान' कहानी, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता, पृ०-207
8. मंजु ज्योत्सना, 'प्रायश्चित'- आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, सं० रमणिका गुप्ता, पृ० 169
9. 'टीस' , संजीव
10. तीस साल का सफरनामा से , चाकरी, संजीव, पृ० 76